

धर्म का समाजशास्त्र: आधारशिला, प्रमुख सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य एवं आधुनिक विषय-वस्तु

प्रियंका कपूर

सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, जैन कन्या पाठशाला (पीजी) कॉलेज,
मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश) E-mail: <priyankameerut1980@gmail.com>

सारांश

यह शोधपत्र धर्म के समाजशास्त्र की प्रकृति, विकास, प्रमुख सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों तथा समकालीन प्रासंगिकता का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का उद्देश्य धर्म और समाज के बीच जटिल एवं गतिशील अन्तर्सम्बन्धों को समझना तथा सामाजिक संरचना, सामाजिक एकजुटता, असमानता, सत्ता, सामाजिक परिवर्तन एवं मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने में धर्म की भूमिका का समाजशास्त्रीय विवेचन करना है। अध्ययन में धर्म के समाजशास्त्र की संकल्पना, विषय-वस्तु एवं बौद्धिक आधारों की समीक्षा करते हुए इसके विकास में इमाइल दुखीम, मैक्स वेबर एवं कार्ल मार्क्स के योगदान का विश्लेषण किया गया है। इसके साथ ही, प्रकार्यात्मक, संघर्ष एवं प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावादी दृष्टिकोणों के माध्यम से धर्म के सामाजिक प्रकार्यों, सामूहिक चेतना, सामाजिक नियन्त्रण, असमानता, सत्ता सम्बन्धों, मूल्यों, मानदण्डों तथा सामाजिक अन्तर्क्रियाओं पर इसके प्रभाव को समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन आगे धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक बहुलवाद, वैश्वीकरण, धार्मिक पहचान, कट्टरपंथ एवं धार्मिक पुनरुत्थानवाद जैसे समकालीन मुद्दों का परीक्षण करता है। विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि आधुनिकता और वैश्वीकरण के प्रभावों के बावजूद धर्म सामाजिक जीवन से विलुप्त नहीं हुआ है, बल्कि बदलती सामाजिक परिस्थितियों में नए रूपों, पहचानों एवं कार्यों के साथ पुनर्संरचित हुआ है। निष्कर्षतः, धर्म का समाजशास्त्रीय अध्ययन समकालीन समाज में सामाजिक एकजुटता एवं विघटन, असमानता एवं सत्ता, पहचान एवं सामुदायिक सम्बन्धों तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं को समझने के लिए निरन्तर महत्वपूर्ण बना हुआ है।

प्रमुख शब्द

[धर्म का समाजशास्त्र, सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य, प्रकार्यात्मक, संघर्ष परिप्रेक्ष्य, प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य।]

Centre For Studies of National Development, Meerut

Editorial Office : D-59, Shastri Nagar, Meerut - 250 004 (INDIA)

Ph. : 0121-2763765, +91-9997771669, +91-9412200765

2

धर्म का समाजशास्त्र: आधारशिला, प्रमुख सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य एवं आधुनिक विषय-वस्तु

1. प्रस्तावना

धर्म का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की एक प्रमुख शाखा है जो धर्म को एक सामाजिक घटना के रूप में व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक तरीके से देखती है। यह धार्मिक विश्वासों, प्रथाओं, मूल्यों, रीति-रिवाजों, संगठनों एवं संस्थाओं की प्रकृति, उत्पत्ति, कार्यों एवं परिणामों तथा व्यापक समाज के साथ उनके सम्बन्धों को समझने की कोशिश करती है। यह जाँचने के बजाय कि कोई खास धार्मिक विश्वास सही है या गलत, समाजशास्त्र धर्म का अध्ययन निष्पक्ष रूप से सामाजिक व्यवहार के एक रूप में करता है तथा यह समझने की कोशिश करता है कि धार्मिक विचार एवं संस्थाएँ व्यक्तियों, समूहों, समुदायों तथा सामाजिक संरचनाओं को कैसे प्रभावित करते हैं। धर्म मानव समाजों में सबसे लम्बे समय तक चलने वाली एवं प्रभावशाली संस्थाओं में से एक रहा है, जिसने लोगों के विश्व को देखने के नजरिए, नैतिक मूल्यों, पहचान, अन्तर्क्रिया के तरीकों एवं जीवन, मृत्यु, दुःख एवं अस्तित्व के अर्थ को समझने के तरीकों को आकार दिया है। साथ ही, धर्म खुद भी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों से प्रभावित होता है। इसलिए, धर्म का समाजशास्त्र धर्म एवं समाज के बीच इस दोतरफा सम्बन्ध की जाँच करता है।

धर्म का व्यवस्थित समाजशास्त्रीय अध्ययन मुख्य रूप से उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में विकसित हुआ, खासकर शास्त्रीय समाजशास्त्रीय विचारों के उदय के साथ। इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर एवं कार्ल मार्क्स ने इस क्षेत्र में मूलभूत योगदान दिया, हालाँकि उन्होंने धर्म को अलग-अलग सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों से देखा। दुर्खीम ने सामाजिक एकीकरण, सामूहिक चेतना एवं एकजुटता में इसकी भूमिका की जाँच की; वेबर ने धार्मिक विचारों, सामाजिक कार्यों, आर्थिक व्यवहार, अधिकार एवं तर्कसंगतता के बीच सम्बन्धों का पता लगाया; जबकि मार्क्स ने धर्म के वर्ग, विचारधारा, अलगाव एवं सामाजिक असमानता के साथ सम्बन्धों पर जोर दिया। उनके विविध परिप्रेक्ष्यों ने धर्म को समाजशास्त्रीय जाँच का एक महत्वपूर्ण विषय बनाया तथा आज भी समकालीन विद्वानों के काम को प्रभावित करते हैं। इन शास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों ने मिलकर धर्म को सामाजिक स्थितियों के प्रतिबिम्ब एवं सामाजिक संरचना, संस्थाओं व सामाजिक परिवर्तन को आकार देने वाली एक अहम प्रभाव, दोनों ही रूपों में समझने के लिए सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया।

2. अध्ययन के उद्देश्य

अध्ययन के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं—

1. धर्म के समाजशास्त्र के अर्थ, प्रकृति एवं विषय-वस्तु को समझाना।
2. धर्म के अध्ययन के बौद्धिक एवं समाजशास्त्रीय आधारों की जाँच करना।
3. मार्क्स, दुर्खीम एवं वेबर के विशेष सन्दर्भ में धर्म से जुड़े मुख्य सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों का विश्लेषण करना।
4. धर्म के समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण आधुनिक विषयों एवं उभरते रुझानों पर चर्चा करना।
5. सामाजिक संरचना, सामाजिक परिवर्तन एवं मानवीय व्यवहार को समझने में धर्म की समकालीन प्रासंगिकता को उजागर करना।

3. पद्धतिशास्त्र

यह शोधपत्र वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध-प्रारूप पर आधारित है तथा पूरी तरह से द्वितीयक स्रोतों (Secondary sources) पर निर्भर है। धर्म के समाजशास्त्र के आधारों, मुख्य सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों एवं आधुनिक विषयों की जाँच करने के लिए सम्बन्धित पुस्तकों, विद्वानों के लेखों, समाजशास्त्रीय रचनाओं एवं अन्य शैक्षणिक स्रोतों का अध्ययन किया गया है। विषय की व्यवस्थित समझ प्रस्तुत करने के लिए एकत्रित सामग्री का विषय-आधारित तथा तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

4. धर्म के समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषाएँ

धर्म का समाजशास्त्र, धर्म का एक सामाजिक घटना के रूप में व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन है। यह व्यापक सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में धार्मिक विश्वासों, मूल्यों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं, संगठनों, संस्थाओं एवं अनुभवों की जाँच करता है। इसका उद्देश्य यह तय करना नहीं है कि धार्मिक विश्वास सही हैं या गलत, बल्कि यह समझना है कि धर्म कैसे उत्पन्न होता है, काम करता है, विकसित होता है, बदलता है तथा सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। धर्म का समाजशास्त्र धर्म एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार, अर्थव्यवस्था, राजनीति, शिक्षा एवं कानून के बीच आपसी सम्बन्धों का अध्ययन करता है। यह इस बात की भी जाँच करता है कि धर्म सामाजिक एकता एवं एकजुटता में कैसे योगदान देता है तथा साथ ही, यह सामाजिक संघर्ष, असमानता, सामाजिक नियन्त्रण, प्रतिरोध एवं सामाजिक परिवर्तन से कैसे जुड़ा हो सकता है।

व्यापक अर्थों में, धर्म का समाजशास्त्र धार्मिक जीवन के सामाजिक पहलुओं को समझने का प्रयास करता है। यह धर्म का अध्ययन एक संस्था के रूप में तथा सामूहिक व व्यक्तिगत सामाजिक क्रिया के रूप में करता है। इस प्रकार, यह ऐसे प्रश्नों की पड़ताल करता है—धर्म लोगों के व्यवहार एवं मूल्यों को कैसे प्रभावित करता है? धार्मिक विश्वास एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कैसे पहुँचते हैं? समाज में धार्मिक संगठनों की क्या भूमिका है? धर्म सामाजिक एकजुटता या संघर्ष में कैसे योगदान देता है? आधुनिकीकरण, धर्मनिरपेक्षता, वैश्वीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन से धार्मिक संस्थाएँ कैसे प्रभावित होती हैं? इसलिए यह विषय धर्म एवं समाज के बीच एक व्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करता है, यह मानते हुए कि जहाँ धर्म समाज को प्रभावित करता है, वहीं धार्मिक विश्वास एवं संस्थाएँ भी बदलती सामाजिक परिस्थितियों से आकार लेती हैं।

जे0 मिल्टन यिंगर¹ ने धर्म के समाजशास्त्र को “धर्म एवं समाज के बीच अन्तर्क्रिया” के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। उनकी परिभाषा धार्मिक संस्थाओं एवं व्यापक सामाजिक परिवेश के बीच आपसी सम्बन्धों की ओर ध्यान आकर्षित करती है। धर्म का अध्ययन अलग-थलग रहकर नहीं किया जाता; बल्कि, समाजशास्त्री इस बात की जाँच करते हैं कि धार्मिक विश्वास एवं संगठन सामाजिक व्यवहार को कैसे प्रभावित करते हैं तथा बदले में, सामाजिक संरचनाएँ एवं प्रक्रियाएँ धर्म को कैसे प्रभावित करती हैं।

जोआचिम वाच² धर्म के समाजशास्त्र को धार्मिक अनुभव एवं अभिव्यक्ति के सामाजिक रूपों से जुड़ा हुआ मानते हैं। उनका परिप्रेक्ष्य इस बात पर जोर देता है कि धर्म विश्वासों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, समूहों एवं संगठनों के माध्यम से सामाजिक रूप से दिखाई देता है। इस प्रकार, धर्म का समाजशास्त्र उन तरीकों से सम्बन्धित है जिनसे धार्मिक अनुभव को सामाजिक जीवन में व्यक्त एवं व्यवस्थित किया जाता है।

पीटर एल0 बर्गर³ धर्म के समाजशास्त्र को धर्म से जुड़े सामाजिक ढाँचों एवं प्रक्रियाओं के व्यवस्थित अध्ययन के रूप में देखते हैं। उनके व्यापक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में, धर्म को उस प्रक्रिया के हिस्से के रूप में समझा जाता है जिसके माध्यम से मनुष्य एक सार्थक सामाजिक विश्व का निर्माण करते हैं, उसे वैध बनाते हैं तथा उसे बनाए रखते हैं। धार्मिक विश्वास व्यक्तियों को अर्थ का एक ढाँचा प्रदान कर सकते हैं तथा विशिष्ट सामाजिक व्यवस्थाओं एवं संस्थानों को वैध बना सकते हैं।

इस प्रकार, निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धर्म के समाजशास्त्र का अर्थ संक्षेप में धर्म का उसके सामाजिक सन्दर्भ में व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन है, यानी एक सामाजिक घटना के रूप में धर्म। यह

धार्मिक विश्वासों, प्रथाओं, संस्थानों एवं सामाजिक ढाँचों के बीच सम्बन्धों की जाँच करता है तथा व्यक्तिगत व्यवहार, सामूहिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक असमानता एवं सामाजिक परिवर्तन पर उनके प्रभाव को समझने का प्रयास करता है। यह निर्णय लेने के बजाय कि धार्मिक विश्वास सही हैं या गलत, धर्म का समाजशास्त्र यह अध्ययन करता है कि समाज के भीतर धर्म कैसे काम करता है तथा धार्मिक विचार एवं प्रथाएँ मानवीय व्यवहार, सामाजिक सम्बन्धों, संस्थानों एवं सामूहिक जीवन के प्रतिमान को कैसे प्रभावित करते हैं।

धर्म का समाजशास्त्र अनेक समकालीन मुद्दों की भी जाँच करता है, जिनमें धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक कट्टरवाद, धार्मिक बहुलवाद, धर्मांतरण, साम्प्रदायिकता, धार्मिक पहचान, तीर्थयात्रा, धार्मिक आन्दोलन, वैश्वीकरण, आधुनिकता, लिंग एवं धर्म, धर्म एवं राजनीति तथा विज्ञान एवं धर्म के बीच सम्बन्ध सम्मिलित हैं। यह धर्म के संस्थागत आयामों, जैसे चर्च, मन्दिर, मस्जिद, मठ एवं धार्मिक संगठन तथा व्यक्तियों एवं समुदायों के रोजमर्रा के अनुभवों, दोनों का अध्ययन करता है। ऐसा करते हुए, यह प्रदर्शित करता है कि धर्म केवल व्यक्तिगत विश्वास का मामला नहीं है, बल्कि एकजुटता एवं सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने में सक्षम एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है, जबकि कुछ परिस्थितियों में, यह संघर्ष, बहिष्कार, असमानता एवं सामाजिक परिवर्तन से भी जुड़ सकता है। इस प्रकार, धर्म का समाजशास्त्र यह समझने के लिए एक व्यवस्थित ढाँचा प्रदान करता है कि बदलते सामाजिक परिवेश में धार्मिक विश्वास एवं प्रथाएँ कैसे बनती हैं, बनी रहती हैं, प्रसारित होती हैं, चुनौती दी जाती हैं तथा परिवर्तित होती हैं।

5. धर्म के समाजशास्त्र की आधारशिला

धर्म का समाजशास्त्र, शास्त्रीय समाजशास्त्रियों—इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर एवं कार्ल मार्क्स—के अहम योगदान से समाजशास्त्र के भीतर एक अलग क्षेत्र के रूप में उभरा। हालाँकि उनके परिप्रेक्ष्य (नजरिए) में काफी अन्तर था, फिर भी तीनों ने धर्म को एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था माना तथा समाज, सामाजिक सम्बन्धों, मानवीय व्यवहार, सत्ता एवं सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में इसे समझने की कोशिश की। उनके विचारों ने धर्म के व्यवस्थित समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए सैद्धान्तिक आधार तैयार किया तथा आज भी इस विषय पर आधुनिक परिप्रेक्ष्यों को प्रभावित करते हैं।

इमाइल दुर्खीम को व्यापक रूप से धर्म के समाजशास्त्र के संस्थापकों में से एक तथा अक्सर इसका जनक माना जाता है। उनकी शास्त्रीय कृति 'द एलिमेंट्री फ़ॉर्म ऑफ़ रिलिजियस लाइफ़' (1912)⁴ धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन में एक मील का पत्थर है। मुख्य रूप से ऑस्ट्रेलियाई आदिवासी समुदायों के धार्मिक जीवन के अपने अध्ययन के आधार पर, दुर्खीम ने धर्म के बुनियादी तत्त्वों एवं सामाजिक प्रकार्यों की पहचान करने की कोशिश की। उन्होंने तर्क दिया कि धर्म की मुख्य विशेषता पवित्र एवं अपवित्र के बीच का अन्तर है। पवित्र का अर्थ उन वस्तुओं से है जिन्हें अलग, विशेष एवं सम्मान के योग्य माना जाता है, जबकि अपवित्र में जीवन के सामान्य एवं रोजमर्रा के पहलू सम्मिलित हैं।

दुर्खीम ने धर्म को “पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों एवं प्रथाओं की एक एकीकृत व्यवस्था”⁵ के रूप में परिभाषित किया, जो इसे मानने वालों को एक नैतिक समुदाय में एक-साथ लाती है। उनके लिए, धर्म मूल रूप से केवल एक निजी या व्यक्तिगत अनुभव के बजाय एक सामूहिक घटना थी। धार्मिक अनुष्ठान लोगों को एक-साथ लाते हैं, साझा विश्वासों एवं मूल्यों को मजबूत करते हैं तथा अपनेपन एवं एकजुटता की भावना पैदा करते हैं। जब लोग पवित्र प्रतीकों की पूजा करते हैं तथा सामूहिक अनुष्ठानों में भाग लेते हैं, तो वे एक महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अर्थ में, समाज के सामूहिक जीवन की पुष्टि एवं सुदृढ़ीकरण कर रहे होते हैं। इसलिए, धार्मिक प्रतीक न केवल अलौकिक या दैवीय वास्तविकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि समूह की सामूहिक पहचान एवं नैतिक मूल्यों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

दुर्खीम के विश्लेषण में एक केन्द्रीय अवधारणा सामाजिक एकजुटता है। उन्होंने कहा कि धार्मिक अनुष्ठान सामूहिक उत्साह (Collective effervescence) पैदा करते हैं—भावनात्मक ऊर्जा एवं सामूहिक

एकता की एक बड़ी हुई भावना, जिसका अनुभव तब होता है जब व्यक्ति सामान्य समारोहों एवं अनुष्ठानों में भाग लेते हैं। ऐसे अनुभव सामाजिक बन्धनों को मजबूत करते हैं तथा समुदाय के सदस्यों द्वारा साझा किए गए मानदण्डों एवं मूल्यों की पुष्टि करते हैं। इसलिए, धर्म सामाजिक एकजुटता को बढ़ावा देकर, व्यवहार को नियन्त्रित करके तथा व्यक्तियों को अर्थ एवं अपनेपन की भावना प्रदान करके एक महत्वपूर्ण एकीकृत कार्य करता है। दुर्खीम के योगदान ने धर्म को उन प्रक्रियाओं को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में स्थापित किया जिनके माध्यम से समाज सामाजिक एकजुटता का निर्माण एवं रखरखाव करते हैं।

धर्म के समाजशास्त्र के विकास में मैक्स वेबर का भी अहम स्थान है। उन्होंने कई मामलों में इस क्षेत्र को दुर्खीम के एकीकरण एवं सामूहिक एकजुटता पर दिए गए जोर से आगे बढ़ाया। वेबर मुख्य रूप से यह समझने में रुचि रखते थे कि धार्मिक विचार, मूल्य एवं नैतिक परिप्रेक्ष्य किस तरह सामाजिक कार्यों एवं ऐतिहासिक परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक '*द प्रोटेस्टैंट इथिक एण्ड दि स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म*' (1905)⁶ में प्रोटेस्टैंट धार्मिक मान्यताओं—खासकर कैल्विनवाद से जुड़ी मान्यताओं—तथा आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद के विकास के बीच सम्बन्ध की जाँच की गई। वेबर का तर्क था कि कुछ प्रोटेस्टैंट नैतिक शिक्षाओं—जैसे कि काम को ईश्वर की सेवा मानने, अनुशासित व्यवहार, संयम एवं 'ईश्वरीय बुलावे' के विचार—ने ऐसे व्यवहार को बढ़ावा दिया जो आर्थिक गतिविधियों एवं पूँजी जमा करने के व्यवस्थित प्रयासों के अनुकूल थे।⁷ उन्होंने यह नहीं कहा कि केवल प्रोटेस्टैंट धर्म ही पूँजीवाद का कारण बना; बल्कि, उन्होंने दिखाया कि कैसे खास धार्मिक विचार आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक स्थितियों के साथ मिलकर ऐतिहासिक परिवर्तन की अहम प्रक्रियाओं को आगे बढ़ा सकते हैं।

बाद में वेबर ने अपने तुलनात्मक विश्लेषण को विश्व के प्रमुख धर्मों—जैसे कन्फ्यूशियसवाद, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, यहूदी धर्म एवं इस्लाम—तक बढ़ाया, ताकि यह देखा जा सके कि अलग-अलग धार्मिक मान्यताएँ एवं नैतिक व्यवस्थाएँ सामाजिक कार्यों एवं संस्थागत विकास के तरीकों को कैसे आकार देती हैं। धर्म के समाजशास्त्र में उनका ध्यान खास तौर पर धार्मिक विचारों एवं 'तर्कसंगतकरण' के बीच सम्बन्ध पर था; इसके जरिए सामाजिक जीवन तेजी से हिसाब-किताब, नियमों, व्यवस्थित प्रक्रियाओं एवं प्रशासन के अनुमानित तरीकों के अनुसार व्यवस्थित होने लगता है। वेबर ने सत्ता के अलग-अलग रूपों—जैसे पारम्परिक, चमत्कारिक एवं कानूनी-तर्कसंगत सत्ता—की भी जाँच की तथा यह पता लगाया कि धार्मिक मान्यताएँ सत्ता के मौजूदा ढाँचों को कैसे सही ठहरा सकती हैं या उन्हें चुनौती दे सकती हैं। उनके 'विश्व से जादू का खत्म होना' के विचार ने आधुनिक समाजों में जादुई एवं अलौकिक व्याख्याओं की धीरे-धीरे होती कमी को उजागर किया, क्योंकि तर्कसंगत एवं नौकरशाही वाली सोच का विस्तार हो रहा था। इस तरह, वेबर ने दिखाया कि धर्म न केवल सामाजिक एकीकरण के लिए, बल्कि आर्थिक विकास, संस्थागत परिवर्तन, आधुनिकीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन के लिए भी एक अहम ताकत हो सकता है।

धर्म के शास्त्रीय समाजशास्त्रीय अध्ययन में कार्ल मार्क्स का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है, हालाँकि उनका परिप्रेक्ष्य दुर्खीम एवं वेबर से बिल्कुल अलग था। मार्क्स ने धर्म को मुख्य रूप से ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग सम्बन्धों, शोषण, विचारधारा एवं सत्ता के परिप्रेक्ष्य से देखा। धर्म को 'लोगों की अफीम' बताने वाली उनकी प्रसिद्ध बात को केवल यह दावा नहीं समझा जाना चाहिए कि धर्म झूठा या बेकार है। बल्कि, यह उनके इस तर्क को दिखाता है कि धर्म दुःख, अलगाव एवं शोषण की स्थितियों से पैदा होता है तथा उनमें सांत्वना देता है। गरीबी, दमन, असुरक्षितता एवं बेबसी का सामना कर रहे लोगों को धर्म से उम्मीद, सुकून एवं दूसरे विश्व में न्याय का भरोसा मिल सकता है। साथ ही, इस तरह का दिलासा उन्हें उन भौतिक एवं सामाजिक हालात से ध्यान भटका सकता है जो उनके दुःख का कारण हैं तथा उन हालात को चुनौती देने की सम्भावना को कम कर सकता है।

इसलिए मार्क्स के लिए, धर्म मानवीय दुःख के जवाब के तौर पर भी काम कर सकता था तथा एक ऐसे तन्त्र के तौर पर भी जो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहायता करता है। धार्मिक मान्यताएँ

समाज के वैचारिक ढाँचे का हिस्सा थीं तथा उसके भौतिक एवं आर्थिक संगठन से गहराई से जुड़ी हुई थीं। वर्गों में बँटे समाज में, ताकतवर समूह धार्मिक विचारों एवं संस्थाओं का इस्तेमाल—जानबूझकर या अनजाने में—मौजूदा असमानताओं, सत्ता, सम्पत्ति के सम्बन्धों एवं वर्चस्व की व्यवस्थाओं को सही ठहराने के लिए कर सकते थे। धार्मिक शिक्षाएँ जो आज्ञाकारिता, अपनी सामाजिक प्रस्थिति को स्वीकार करने, या मरने के बाद इनाम की उम्मीद को बढ़ावा देती हैं, वे कुछ खास हालात में यथास्थिति को बनाए रखने में योगदान दे सकती थीं। नतीजतन, धर्म वैचारिक वर्चस्व का एक साधन बन सकता था, जो ऐतिहासिक रूप से पैदा हुई असमानताओं को स्वाभाविक, जायज या ईश्वरीय आदेश के तौर पर पेश करने में सहायता करता था।⁸

मार्क्स ने धर्म को अलगाव की अवधारणा से भी जोड़ा। उनके परिप्रेक्ष्य से, मानव ऐसी धार्मिक धारणाएँ बनाते हैं जिनमें उनकी अपनी उम्मीदें, मूल्य एवं शक्तियाँ झलकती हैं, लेकिन बाद में ये रचनाएँ लोगों को ऐसी स्वतन्त्र अलौकिक ताकतों के रूप में दिख सकती हैं जो उनकी जिन्दगी को नियन्त्रित करती हैं। इस तरह, धर्म अलगाव के रूप में उन मानवीय आकांक्षाओं एवं क्षमताओं को दिखाता है जिन्हें लोगों ने किसी दैवीय या अलौकिक विश्व पर आरोपित किया है। इसलिए, उनका प्रसिद्ध बयान कि धर्म 'लोगों के लिए अफीम' है, इसी व्यापक तर्क के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए: जैसे अफीम दर्द की असली वजह को दूर किए बिना दर्द से राहत दे सकती है, वैसे ही धर्म मानवीय दुःख के लिए जिम्मेदार भौतिक स्थितियों को खत्म किए बिना भावनात्मक दिलासा दे सकता है।

फिर भी, मार्क्स धर्म को कोई मामूली या पूरी तरह से निजी विश्वास व्यवस्था नहीं मानते थे। वे इसकी काफी सामाजिक एवं वैचारिक शक्ति को पहचानते थे तथा समझते थे कि धार्मिक विचार लोगों की चेतना, मूल्यों एवं व्यवहार को प्रभावित कर सकते हैं। उनकी आलोचना खास तौर पर उन तरीकों पर केन्द्रित थी जिनसे धर्म वर्ग-शोषण एवं असमानता की सच्चाई को छिपा सकता है तथा अन्यायपूर्ण सामाजिक स्थितियों को बदलने के सामूहिक प्रयासों को हतोत्साहित कर सकता है। इस प्रकार, मार्क्स का धर्म का समाजशास्त्र मूल रूप से धर्म, भौतिक स्थितियों, विचारधारा, वर्ग-संघर्ष, अलगाव एवं सत्ता के बीच के सम्बन्धों से जुड़ा है।

शास्त्रीय समाजशास्त्रियों के योगदान ने 'धर्म के समाजशास्त्र' को समाजशास्त्रीय अध्ययन के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में स्थापित किया तथा धार्मिक घटनाओं को उनके व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में समझने के लिए कई तरह के वैचारिक उपकरण प्रदान किए। उनकी सैद्धान्तिक समझ ने धार्मिक संस्थाओं, विश्वास व्यवस्थाओं, धर्मनिरपेक्षीकरण, सामाजिक परिवर्तन, पहचान एवं धर्म के समकालीन रूपों पर बाद में हुए शोध को आकार दिया है। इस प्रकार, शास्त्रीय आधार 'धर्म के समाजशास्त्र' के अध्ययन के एक गतिशील क्षेत्र के रूप में विकास एवं विस्तार के लिए आज भी एक महत्वपूर्ण शुरुआती बिन्दु का काम करते हैं।

6. धर्म के समाजशास्त्र के प्रमुख सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

धर्म का समाजशास्त्र धर्म की एक सामाजिक संस्था के रूप में जाँच करता है तथा व्यक्तियों, समूहों एवं समाज के साथ इसके सम्बन्धों को समझने की कोशिश करता है। समाजशास्त्री न केवल धार्मिक विश्वासों एवं प्रथाओं में रुचि रखते हैं, बल्कि उन तरीकों में भी रुचि रखते हैं जिनसे धर्म सामाजिक एकीकरण में योगदान देता है, सामाजिक असमानताओं को बनाए रखता है या उन्हें चुनौती देता है, व्यक्तिगत पहचान को आकार देता है तथा मानवीय जीवन को अर्थ प्रदान करता है। विभिन्न सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य धर्म की भूमिका एवं महत्व की अलग-अलग तरह से व्याख्या करते हैं। तीन प्रमुख परिप्रेक्ष्य—प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य, संघर्ष परिप्रेक्ष्य एवं प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य—इस बात की पूरक व्याख्याएँ प्रदान करते हैं कि धर्म समाज, सामाजिक समूहों एवं प्रतिदिन के व्यक्तिगत अनुभवों के स्तर पर कैसे काम करता है।

6.1 प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य

प्रकार्यवाद⁹ धर्म को मुख्य रूप से समाज एवं उसके सदस्यों के लिए इसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों के दृष्टिकोण से देखता है। यह परिप्रेक्ष्य धर्म को एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था मानता है जो सामाजिक

एकता, स्थिरता एवं निरन्तरता में योगदान देती है। इस बात पर ध्यान केन्द्रित करने के बजाय कि धार्मिक मान्याएँ सही हैं या गलत, प्रकार्यवादी यह पूछते हैं कि धर्म व्यक्तियों एवं समाज के लिए क्या करता है।

धर्म लोगों को साझा मान्यताओं, मूल्यों, मानदण्डों एवं लक्ष्यों के इर्द-गिर्द एक-साथ लाकर एक तरह के सामाजिक गोंद का काम करता है। सामान्य धार्मिक मान्यताएँ एवं प्रथाएँ अपनेपन की भावना पैदा करती हैं तथा सामाजिक एकजुटता को मजबूत करती हैं। धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रमुख योगदानकर्ताओं में से एक, इमाइल दुर्खीम ने तर्क दिया कि धार्मिक अनुष्ठान समुदाय के सदस्यों को एक-साथ लाते हैं तथा समूह के प्रति उनके जुड़ाव को मजबूत करते हैं। सामूहिक पूजा, त्योहार, समारोह एवं अन्य अनुष्ठान लोगों को अपनी साझा पहचान व्यक्त करने तथा साझा मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को दोहराने के अवसर प्रदान करते हैं।

धर्म सही एवं गलत के मानक प्रदान करके सामाजिक व्यवस्था तथा नैतिक विनियमन में भी योगदान देता है। धार्मिक शिक्षाएँ अक्सर व्यवहार के वांछनीय रूपों, जैसे ईमानदारी, करुणा, दान, आत्म-अनुशासन एवं दूसरों के प्रति सम्मान को निर्धारित करती हैं, जबकि समुदाय के लिए हानिकारक माने जाने वाले व्यवहारों को हतोत्साहित करती हैं। इस तरह, धर्म व्यक्तिगत आचरण को विनियमित करने तथा सामाजिक रूप से स्वीकृत मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार को बढ़ावा देने में सहायता कर सकता है।

धर्म का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य अर्थ एवं उद्देश्य प्रदान करना है। धर्म व्यक्तियों को जन्म, पीड़ा, मृत्यु, हानि, सफलता एवं अनिश्चितता जैसी प्रमुख घटनाओं एवं अनुभवों को समझने में सहायता कर सकता है। धार्मिक मान्यताएँ संकट के समय भावनात्मक समर्थन प्रदान कर सकती हैं तथा व्यक्तियों को उन स्थितियों से निपटने में सहायता कर सकती हैं जिन्हें आसानी से समझाया या नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है।

धर्म एक सामूहिक पहचान बनाकर सामाजिक एकजुटता को भी बढ़ावा दे सकता है जो व्यक्तिगत मतभेदों से ऊपर उठती है। धार्मिक संस्थाएँ शिक्षा, दान, सामुदायिक सेवा, आपसी सहायता एवं सामाजिक मेलजोल के अवसर प्रदान कर सकती हैं। इस प्रकार, प्रकार्यवादी परिप्रेक्ष्य से, धर्म केवल मान्यताओं की एक व्यवस्था नहीं है; यह एक महत्वपूर्ण संस्था है जो समाज की एकता, स्थिरता एवं निरन्तरता में योगदान दे सकती है।

6.2 संघर्ष परिप्रेक्ष्य

संघर्ष परिप्रेक्ष्य¹⁰ धर्म को शक्ति, असमानता, प्रभुत्व एवं सामाजिक संघर्ष के दृष्टिकोण से देखता है। धर्म को मुख्य रूप से सामाजिक एकता के स्रोत के रूप में देखने के बजाय, संघर्ष सिद्धान्तवादी इस बात की जाँच करते हैं कि कैसे धार्मिक मान्यताएँ एवं संस्थाएँ मौजूदा असमानताओं को प्रतिबिम्बित कर सकती हैं या शक्तिशाली समूहों के हितों को बनाए रखने में सहायता कर सकती हैं।

यह परिप्रेक्ष्य कार्ल मार्क्स से जुड़ा है, जिन्होंने धर्म को समाज की आर्थिक एवं वर्ग संरचना से जुड़ा माना था। मार्क्स ने तर्क दिया कि धर्म एक वैचारिक तन्त्र के रूप में काम कर सकता है जो मौजूदा सामाजिक व्यवस्थाओं को वैध बनाने में सहायता करता है। धर्म को 'लोगों की अफीम' बताने वाला उनका प्रसिद्ध विचार यह बताता है कि धर्म शोषण एवं असमानता से जूझ रहे लोगों को दिलासा तो दे सकता है, लेकिन साथ ही उन हालात को चुनौती देने की उनकी इच्छाशक्ति को भी कम कर सकता है जिनकी वजह से उन्हें यह कष्ट (तकलीफ) हो रही है।

इस परिप्रेक्ष्य से देखें तो, धर्म पिछड़े या कमजोर समूहों को गरीबी, शोषण या भेदभाव को स्वीकार करने के लिए प्रेरित कर सकता है। इसलिए, धार्मिक विचार मौजूदा असमानताओं को स्वाभाविक, सही या ईश्वर की इच्छा के तौर पर दिखा सकते हैं। इस तरह, धर्म एक ऐसे दृष्टिकोण के तौर पर काम कर सकता है जिससे ताकतवर समूह कमजोर समूहों पर अपना दबदबा बनाए रखते हैं।

संघर्ष सिद्धान्तवादी धर्म एवं राजनीतिक सत्ता के बीच के सम्बन्ध की भी पड़ताल करते हैं। धार्मिक संस्थाएँ कभी-कभी राजनीतिक सत्ता, आर्थिक रूप से ताकतवर लोगों या समाज के प्रभावशाली समूहों के बहुत

करीब आ जाती हैं। जब धार्मिक शिक्षाएँ सत्ता की मौजूदा व्यवस्था का समर्थन करती हैं, तो वे यथास्थिति को बनाए रखने में योगदान दे सकती हैं। जब अलग-अलग समूह संसाधनों, पहचान, सत्ता या सामाजिक प्रभाव के लिए आपस में होड़ करते हैं, तो धार्मिक मतभेद भी संघर्ष की वजह बन सकते हैं।

हालाँकि, संघर्ष परिप्रेक्ष्य का यह अर्थ नहीं है कि धर्म हमेशा दमन का ही समर्थन करता है। धर्म सामाजिक परिवर्तन तथा विरोध की ताकत भी बन सकता है। धार्मिक मान्यताओं एवं संगठनों ने अलग-अलग समय पर गुलामी, उपनिवेशवाद, नस्लीय भेदभाव, गरीबी एवं अन्याय के दूसरे रूपों के विरुद्ध आन्दोलनों को प्रेरित किया है। इस प्रकार, संघर्ष परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्रियों को धर्म की रूढ़िवादी तथा परिवर्तन लाने वाली दोनों क्षमताओं की पड़ताल करने के लिए प्रेरित करता है, खासकर सत्ता, विशेषाधिकार, असमानता एवं सामाजिक परिवर्तन के साथ इसके सम्बन्ध को समझने के लिए।

6.3 प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य

प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावाद¹¹ उन अर्थों पर ध्यान केन्द्रित करता है जो व्यक्ति धर्म से जोड़ते हैं तथा इस बात पर कि प्रतिदिन की सामाजिक अन्तर्क्रिया के जरिए धार्मिक विश्वास एवं रीति-रिवाज कैसे बनते हैं तथा अनुभव किए जाते हैं। प्रकार्यवाद (जो मुख्य रूप से समाज के स्तर पर धर्म की जाँच करता है) एवं संघर्ष परिप्रेक्ष्य (जो सत्ता एवं असमानता पर जोर देता है) के विपरीत, प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावाद व्यक्तिगत अनुभवों, प्रतीकों, रीति-रिवाजों एवं अन्तर्क्रिया पर ज्यादा बारीकी से ध्यान देता है।

इस परिप्रेक्ष्य से, धर्म प्रतिदिन की जिन्दगी को व्यक्तिगत अर्थ देता है। व्यक्ति धार्मिक प्रतीकों, पवित्र वस्तुओं, रीति-रिवाजों, कहानियों एवं शिक्षाओं की व्याख्या करते हैं तथा इन अर्थों को अपने प्रतिदिन के व्यवहार में सम्मिलित करते हैं। किसी धार्मिक प्रतीक का महत्त्व उसके भौतिक रूप से कहीं ज्यादा हो सकता है क्योंकि किसी धार्मिक समुदाय के सदस्य सामूहिक रूप से उससे खास अर्थ जोड़ते हैं।

धार्मिक रीति-रिवाज भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे साझा अर्थ बनाते हैं तथा व्यक्तिगत व समूह की पहचान को मजबूत करते हैं। प्रार्थना, पूजा, ध्यान, त्योहार, दीक्षा समारोह, आन्तिम संस्कार, तीर्थयात्रा एवं अन्य धार्मिक गतिविधियाँ यह तय कर सकती हैं कि व्यक्ति खुद को तथा दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों को कैसे समझते हैं। ऐसी गतिविधियों में भाग लेने से, व्यक्ति धार्मिक मूल्य सीखते हैं तथा किसी खास समुदाय से जुड़ाव महसूस करते हैं।

प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावाद इस बात पर भी जोर देता है कि धार्मिक पहचान सामाजिक अन्तर्क्रिया के जरिए विकसित एवं व्यक्त होती है। व्यक्ति परिवार के सदस्यों, शिक्षकों, धार्मिक नेताओं, साथियों के समूहों एवं व्यापक समुदायों के माध्यम से धार्मिक विश्वास एवं रीति-रिवाज सीखते हैं। साथ ही, व्यक्ति अपने अनुभवों एवं परिस्थितियों के अनुसार धार्मिक शिक्षाओं की व्याख्या एवं पुनर्व्याख्या कर सकते हैं।

इसलिए, यह परिप्रेक्ष्य धर्म को केवल एक बड़ी एवं स्थिर वैश्विक व्यवस्था के रूप में नहीं देखता है। इसके बजाय, यह पूछता है कि लोग अपनी प्रतिदिन की जिन्दगी में धर्म का अनुभव कैसे करते हैं तथा अन्तर्क्रिया के जरिए पवित्र अर्थ कैसे बनते हैं, बताए जाते हैं, उन पर अन्तर्क्रिया होती है तथा उन्हें बनाए रखा जाता है। यहाँ तक कि साधारण वस्तुएँ, शब्द, इशारे, कपड़े, जगहें एवं काम भी पवित्र महत्त्व प्राप्त कर सकते हैं जब व्यक्ति एवं समुदाय उनसे धार्मिक अर्थ जोड़ते हैं।

धर्म के समाजशास्त्र के उपर्युक्त तीनों सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य समाज में धर्म को समझने के अलग-अलग लेकिन एक-दूसरे के पूरक तरीके प्रदान करते हैं। प्रकार्यवाद धर्म के जोड़ने वाले एवं स्थिरता लाने वाले कार्यों पर जोर देता है, विशेष रूप से सामाजिक एकजुटता, नैतिक नियमन, अर्थ एवं सामाजिक व्यवस्था बनाने में इसकी भूमिका पर। संघर्ष परिप्रेक्ष्य धर्म, सत्ता, असमानता, प्रभुत्व एवं सामाजिक परिवर्तन के बीच सम्बन्धों की ओर ध्यान आकर्षित करता है तथा दिखाता है कि कैसे धर्म मौजूदा असमानताओं को वैधता भी दे सकता है तथा उनके विरुद्ध प्रतिरोध के लिए प्रेरित भी कर सकता है। प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावाद उन सूक्ष्म-स्तरीय प्रक्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित करता है जिनके माध्यम से व्यक्ति धर्म का अनुभव करते हैं, पवित्र प्रतीकों की

व्याख्या करते हैं, अनुष्ठानों में भाग लेते हैं तथा प्रतिदिन की जिन्दगी में धार्मिक पहचान एवं अर्थ गढ़ते हैं। कुल मिलाकर, ये परिप्रेक्ष्य दिखाते हैं कि धर्म एक जटिल सामाजिक घटना है—यह लोगों को एकजुट कर सकता है तथा साथ ही सीमाएं भी बना सकता है, स्थापित सत्ता को मजबूत कर सकता है एवं साथ ही सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरित भी कर सकता है, एक सामूहिक संस्था के रूप में भी काम कर सकता है।

7. धर्म के समाजशास्त्र की आधुनिक विषय-वस्तु

धर्म का समाजशास्त्र, धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज एवं संस्थागत संगठन जैसे पारम्परिक विषयों से कहीं आगे बढ़ चुका है। आज के समाजशास्त्री आधुनिकीकरण, वैश्वीकरण, धर्मनिरपेक्षीकरण, पहचान, राजनीति, प्रौद्योगिकी, प्रवास, लिंग, सामाजिक आन्दोलनों एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के सन्दर्भ में धर्म का अध्ययन करते हैं। धर्म के समाजशास्त्र में आधुनिक विषयों में मुख्य रूप से निम्नलिखित सम्मिलित हैं—

- धर्मनिरपेक्षीकरण (आधुनिक देशों में धार्मिक संस्थाओं की सामाजिक शक्ति एवं प्रतिदिन के जीवन में उनके इस्तेमाल में धीरे-धीरे कमी आना);
- धार्मिक बहुलवाद एवं विविधता (अलग-अलग समूह, पंथ एवं नए आन्दोलन बहु-सांस्कृतिक समाजों में कैसे घुल-मिल जाते हैं);
- वैश्वीकरण (आस्था कैसे फैलती है, बदलती है तथा अलग-अलग देशों की सीमाओं के पार लोगों को जोड़ती है);
- आधुनिकीकरण (धर्म, आधुनिकीकरण के प्रति कैसे प्रतिक्रिया दे सकता है, जैसे—अपनी संस्थाओं में सुधार करके, परम्पराओं की नई व्याख्या करके या धार्मिक अभिव्यक्ति के नए रूप विकसित करके);
- धार्मिक कट्टरपंथ एवं पुनरुत्थानवाद (किन सामाजिक स्थितियों से धार्मिक पुनरुत्थान को बढ़ावा मिलता है, कट्टरपंथ एवं आधुनिकता के बीच क्या सम्बन्ध है तथा पहचान एवं सामूहिक परियोजन (लामबन्दी) में धर्म की क्या भूमिका है);
- धर्म, राजनीति एवं राज्य (धर्म एवं राजनीति के बीच सम्बन्ध तथा कैसे धार्मिक विश्वास एवं संगठन राजनीतिक सोच, मतदान व्यवहार, सार्वजनिक नीति, राष्ट्रवाद, नेतृत्व एवं सामाजिक आन्दोलनों को प्रभावित करते हैं);
- धर्म एवं सामाजिक परिवर्तन (धर्म कैसे सामाजिक स्थिरता एवं सामाजिक परिवर्तन, दोनों का कारण बन सकता है);
- धर्म, जेण्डर एवं लैंगिकता या कामुकता (धर्म, जेण्डर एवं लैंगिकता के बीच क्या सम्बन्ध है);
- धर्म एवं सामाजिक असमानता (धर्म का वर्ग, जाति, नृजातीय पहचान, नस्ल, जेण्डर एवं सामाजिक बँटवारे के अन्य रूपों से क्या सम्बन्ध है);
- धर्म, जाति एवं नृजातीय पहचान (धार्मिक जुड़ाव एवं जाति पदानुक्रम, नृजातीय पहचान, सामाजिक गतिशीलता, भेदभाव एवं सामूहिक एकजुटता के बीच क्या सम्बन्ध है);
- धर्म एवं पहचान (प्रवासियों, अल्पसंख्यकों, युवाओं, प्रवासी समुदायों एवं अन्य सामाजिक समूहों के बीच धार्मिक पहचान);
- धर्म एवं सामाजिक आन्दोलन (नेतृत्व, सामूहिक पहचान, लोगों को जोड़ने, परियोजन (लामबन्दी) एवं सामूहिक कार्यवाही में धार्मिक मूल्यों की भूमिका की जाँच);
- धर्म एवं विज्ञान (धर्म एवं विज्ञान के बीच सम्बन्ध);
- धर्म एवं मीडिया (मीडिया में धर्म को कैसे दिखाया जाता है एवं यह लोगों की सोच को कैसे प्रभावित करता है; धार्मिक समूह प्रचार, शिक्षा, परियोजन (लामबन्दी) एवं समुदाय बनाने के लिए मीडिया का उपयोग कैसे करते हैं);

- डिजिटल धर्म एवं साइबर-धर्म (डिजिटल तकनीकों एवं ऑनलाइन प्लेटफॉर्म के माध्यम से धार्मिक विश्वासों एवं रीति-रिवाजों को कैसे व्यक्त किया जाता है);
- धर्म, संघर्ष एवं हिंसा (धर्म, संघर्ष एवं हिंसा के बीच सम्बन्ध); धर्म, शान्ति एवं सुलह (शान्ति स्थापना एवं सुलह में धर्म की भूमिका);
- धर्म एवं अर्थव्यवस्था (धर्म एवं आर्थिक व्यवहार के बीच सम्बन्ध);
- धर्म एवं पर्यावरण (धार्मिक विश्वास एवं नैतिक परम्पराएँ प्रकृति, जानवरों, प्राकृतिक संसाधनों, जलवायु परिवर्तन एवं पर्यावरण के प्रति जिम्मेदारी के बारे में सोच को कैसे आकार देती हैं);
- धर्म एवं स्वास्थ्य (धर्म बीमारी, ठीक होने, मृत्यु, पीड़ा एवं भलाई के बारे में सोच को कैसे प्रभावित कर सकता है);
- धर्म, उपभोक्ता संस्कृति एवं वस्तुकरण (धर्म एवं उपभोक्ता संस्कृति के बीच सम्बन्ध);
- धर्म, पर्यटन एवं तीर्थयात्रा (कैसे तीर्थयात्रा एवं धार्मिक पर्यटन में आर्थिक लेन-देन, सांस्कृतिक मेल-जोल, पहचान बनाना, समुदाय में एकता एवं राजनीतिक प्रतीकवाद सम्मिलित होते हैं);
- धर्म एवं युवा (युवाओं में धार्मिक भागीदारी के बदलते तरीकों, शिक्षा एवं सोशल मीडिया के प्रभाव, धार्मिक जुड़ाव में पीढ़ियों के बीच अन्तर एवं आध्यात्मिकता के व्यक्तिगत रूपों के उभरने की जाँच);
- धर्म एवं धर्मनिरपेक्ष सार्वजनिक क्षेत्र (सार्वजनिक जीवन में धर्म की लगातार मौजूदगी की जाँच);
- उत्तर-धर्मनिरपेक्षता एवं धर्म की वापसी (कैसे धर्म आधुनिक सामाजिक स्थितियों के अनुसार बदल रहा है तथा ढल रहा है); तथा
- धर्म, कृत्रिम बुद्धिमत्ता एवं नई तकनीकें (धर्म एवं कृत्रिम बुद्धिमत्ता अर्थात् आर्टिफिशियल इन्टेलिजेंस, वर्चुअल रियलिटी एवं नई तकनीकों के बीच सम्बन्ध)।

इस तरह, धर्म का समकालीन समाजशास्त्र धार्मिक संस्थाओं एवं मान्यताओं के पारम्परिक अध्ययन से कहीं आगे बढ़ गया है। अब यह धर्म को एक गतिशील सामाजिक घटना के रूप में देखता है जो आधुनिकता, वैश्वीकरण, राजनीति, अर्थव्यवस्था, प्रौद्योगिकी, पहचान, असमानता, पर्यावरण एवं संस्कृति के साथ लगातार मेल-जोल रखती है। मुख्य चिन्ता अब केवल यह नहीं है कि धर्म कमजोर हो रहा है या मजबूत, बल्कि यह है कि बदलती सामाजिक स्थितियों में धार्मिक मान्यताएँ, संस्थाएँ, पहचान एवं रीति-रिवाज कैसे बदल रहे हैं। नतीजतन, समकालीन समाजशास्त्र यह मानता है कि धर्म एक ही समय में सामाजिक एकता एवं विभाजन, परम्परा एवं नवाचार, अनुरूपता एवं विरोध, स्थिरता एवं परिवर्तन का स्रोत हो सकता है।

8. धर्म के समाजशास्त्र की समकालीन प्रासंगिकता

आज के सामाजिक ढाँचे को समझने के लिए धर्म बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सामाजिक संस्थाओं, पारिवारिक सम्बन्धों, सामुदायिक जीवन, मूल्यों, मानदण्डों एवं सामूहिक पहचान को प्रभावित करता है। धार्मिक विश्वास एवं रीति-रिवाज सामाजिक एकता एवं एकजुटता को बढ़ावा दे सकते हैं, जबकि अलग-अलग धर्मों से जुड़ाव सामाजिक सीमाओं, असमानताओं एवं लोगों को सम्मिलित करने या बाहर रखने के तरीकों को भी तय कर सकता है। इसलिए, विविधतापूर्ण एवं बहु-सांस्कृतिक समाजों में, धर्म इस बात को प्रभावित करता रहता है कि व्यक्ति एवं समूह अपनी पहचान तथा दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों को कैसे परिभाषित करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन एवं मानवीय व्यवहार में भी धर्म महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। धार्मिक आन्दोलन सामाजिक सुधार, न्याय, कल्याण एवं सामुदायिक विकास में सहायता कर सकते हैं, जबकि धार्मिक संस्थाएँ अक्सर बदलती सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों के अनुसार प्रतिक्रिया देती हैं। व्यक्तिगत स्तर

पर, धर्म नैतिक मूल्यों, दृष्टिकोणों, जीवन के विकल्पों, आपसी व्यवहार एवं सामाजिक समस्याओं के प्रति प्रतिक्रियाओं को आकार दे सकता है। साथ ही, धर्मनिरपेक्षता, वैश्वीकरण, धार्मिक बहुलवाद, आध्यात्मिकता के नए रूपों एवं धार्मिक कट्टरवाद के बढ़ने से यह पता चलता है कि धर्म की भूमिका खत्म नहीं हो रही है, बल्कि बदल रही है। इस प्रकार, समाज एवं मानवीय व्यवहार में निरन्तरता एवं परिवर्तन, दोनों को समझने के लिए धर्म का समकालीन समाजशास्त्र आवश्यक बना हुआ है।

9. निष्कर्ष

धर्म का समाजशास्त्र धर्म को केवल व्यक्तिगत आस्था या निजी आध्यात्मिकता का मामला नहीं मानता, बल्कि एक महत्वपूर्ण सामाजिक शक्ति के रूप में भी देखता है जो सामाजिक एकता, सामाजिक नियन्त्रण, पहचान बनाने, सांस्कृतिक निरन्तरता एवं सामाजिक परिवर्तन में योगदान दे सकता है। यह विषय धर्मशास्त्रीय (थियोलॉजिकल) के बजाय समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य अपनाता है: धर्मशास्त्र यह पूछता है कि धर्म का क्या अर्थ होना चाहिए या क्या धार्मिक विश्वास सच हैं, जबकि समाजशास्त्र यह पूछता है कि समाज के भीतर धर्म कैसे काम करता है तथा चलता है। समाजशास्त्री अलग-अलग समाजों एवं ऐतिहासिक दौरों में धार्मिक जीवन की जाँच करने के लिए अनेक प्रविधियों/पद्धतियों का इस्तेमाल करते हैं, जिनमें सर्वेक्षण, साक्षात्कार, सहभागी अवलोकन, तुलनात्मक विश्लेषण एवं ऐतिहासिक व जनसांख्यिकीय आँकड़ों का अध्ययन सम्मिलित है। दुर्खीम, वेबर एवं मार्क्स के योगदान ने धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए तीन महत्वपूर्ण तथा एक-दूसरे के पूरक आधार तैयार किए। दुर्खीम ने सामाजिक एकता, सामूहिक चेतना एवं एकजुटता बनाने में धर्म की भूमिका पर जोर दिया; वेबर ने जाँच की कि धार्मिक मान्यताएँ सामाजिक कार्यों, आर्थिक व्यवहार, अधिकार, तार्किकता एवं ऐतिहासिक परिवर्तन को कैसे प्रभावित करती हैं; जबकि मार्क्स ने धर्म, विचारधारा, वर्ग असमानता, शोषण एवं सत्ता के बीच सम्बन्धों पर प्रकाश डाला। ये शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मिलकर यह दिखाते हैं कि धर्म केवल व्यक्तिगत आस्था का मामला नहीं है, बल्कि एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है जो समुदायों को जोड़ सकती है, मानवीय कार्यों को आकार दे सकती है, मौजूदा संरचनाओं को वैधता दे सकती है तथा सामाजिक परिवर्तन में योगदान दे सकती है। उनके सैद्धान्तिक योगदानों ने उस आधार का निर्माण किया जिस पर बाद में धर्म के समाजशास्त्रीय अध्ययन विकसित हुए, जिनमें धर्मनिरपेक्षता, धार्मिक विविधता, वैश्वीकरण, कट्टरपंथ, नए धार्मिक आन्दोलनों एवं आधुनिक समाज में धर्म की बदलती भूमिका से सम्बन्धित परिप्रेक्ष्य सम्मिलित हैं।

नोट्स एवं सन्दर्भ-सूची

1. Yinger, J. Milton, *Religion, Society and the Individual: An Introduction to the Sociology of Religion*, New York: Macmillan, 1957, X.
2. Wach, Joachim, *Sociology of Religion*, Chicago: University of Chicago Press, 1944.
3. Berger, Peter L., *The Sacred Canopy: Elements of a Sociological Theory of Religion*, Garden City, NY: Doubleday, 1967, 51.
4. *Emile Durkheim, Elementary Forms of Religious Life*, Paris: Félix Alcan, 1912.
5. दुर्खीम के अनुसार धर्म की परिभाषा न तो अलौकिकता के आधार पर और न ही ईश्वरीय शक्ति के आधार पर दी जा सकती है अपितु इसके लिए पवित्र (Sacred) तथा सांसारिक या लौकिक (Profane) में अन्तर करना जरूरी हो जाता है। इन विचारों के आधार पर दुर्खीम ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है—“धर्म पवित्र वस्तुओं, वे वस्तुएँ, जो अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों एवं क्रियाओं की एक समन्वित व्यवस्था है, अलग मानी जाती हैं और निषेधों में बँधी हैं, ये विश्वास और क्रियाएँ उन सभी को, जो उनका पालन करते हैं, एक उस नैतिक समुदाय के रूप में एकबद्ध कर देती हैं जिसे मठ या मत (चर्च) कहा जाता है।”

6. Max Weber, *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism*, Tübingen, Germany: J.C.B. Mohr / Paul Siebeck, 1905.
7. प्रोटेस्टैण्ट इथिक की आदर्श-प्ररूप की तुलना अन्य धर्मों से करके तथा पूँजीवाद की आत्मा का आदर्श-प्ररूप बनाकर वेबर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रोटेस्टैण्ट धर्म के विचार आर्थिक विकास से जुड़े हैं तथा दोनों तरह के मूल्यों में काफी समानता है। इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है जिसे वेबर कार्य-कारण सम्बन्ध कहते हैं क्योंकि जहाँ पर प्रोटेस्टैण्ट इथिक पाया जाता है वहीं पूँजीवाद की आत्मा विकसित होती है। अपने तर्क की पुष्टि वह ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर करते हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा होलैण्ड इत्यादि देशों में पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकास हुआ क्योंकि इन देशों में अधिकांश व्यक्ति प्रोटेस्टैण्ट धर्म के ही अनुयायी हैं। दूसरी ओर, इटली तथा स्पेन इत्यादि देशों में पूँजीवाद अधिक विकसित नहीं हो सका क्योंकि वहाँ अधिकांश कैथोलिक धर्म के अनुयायी रहते हैं तथा कैथोलिक धर्म की मान्यताएँ प्रोटेस्टैण्ट धर्म की मान्यताओं से पूर्णतः भिन्न हैं।
8. कार्ल मार्क्स ने 'धर्म' के वैज्ञानिक अध्ययन को एक नई दिशा प्रदान की। 'धर्म' उनके लिए आर्थिक संरचना पर आधारित एक वैचारकीय अधि-संरचना है। यह पीड़ित मानवता की आह से उपजती है और दैनिक जिन्दगी के अभावों से अलग एक 'विपरीत विश्व' की कल्पना प्रदान कर उसे सन्तोष प्रदान करती है। इस भाँति, धर्म जन-मानस के लिए अफीम है जो उसे वास्तविकता के बारे में बहलाए रखती है। व्यक्ति अपनी दुर्दशा के लिए उत्तरदायी भौतिक परिस्थितियों से लड़ने के बजाय स्वयं के 'भाग्य' या कर्मों को कोसता रहता है।
9. प्रकार्यवाद मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अध्ययनों में प्रयोग किया जाने वाला एक प्रमुख परिप्रेक्ष्य माना जाता है। यह परिप्रेक्ष्य इस आधारभूत मान्यता पर आधारित है कि समाज या सामाजिक संरचना का प्रत्येक अंग व इकाई सम्पूर्ण समाज या संरचना को बनाए रखने के लिए निश्चित योगदान प्रदान करती है। समग्रता को बनाए रखने में योगदान देने के कारण इकाइयाँ अपरिहार्य एवं अनिवार्य हैं। यह इस मान्यता पर भी आधारित है कि समग्र के विभिन्न अंगों की सामाजिक क्रियाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं।
10. संघर्ष परिप्रेक्ष्य में मूल्यों की एकात्मकता के स्थान पर संघर्ष की परिस्थितियों को सामाजिक व्यवस्था के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में मान्यता दी गई है। ये संघर्ष की परिस्थितियाँ शान्तिपूर्ण बाजारी सौदेबाजी से लेकर हिंसक घटनाओं तक किसी भी रूप में हो सकती हैं। संघर्ष समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित कर देता है और इनकी व्याख्या संघर्ष परिस्थितियों के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। प्रत्येक समाज सदैव मतभेद तथा संघर्ष प्रदर्शित करता है। अतः संघर्ष सर्वव्यापी है। समाज का प्रत्येक तत्त्व इसके विघटन एवं परिवर्तन के लिए योगदान देता है।
11. प्रतीकात्मक अन्तर्क्रियावादी परिप्रेक्ष्य का अभिप्राय उस मानवीय क्रिया की व्याख्या से है जिसे सामाजिक अन्तर्क्रिया से उत्पन्न मानकर अध्ययन किया जाता है। यह मूलतः एक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य है जो कि समाजशास्त्रीय उद्यम में अत्यधिक सहायक है। यह परिप्रेक्ष्य अमूर्त सामाजिक संरचनाओं, मानवीय व्यवहार के मूर्त स्वरूपों अथवा अनुमानित मानसिक लक्षणों पर बल न देकर, अन्तर्क्रिया की प्रकृति तथा सामाजिक क्रिया व सामाजिक सम्बन्ध के गतिशील प्रतिमानों के अध्ययन पर बल देता है। इस परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण की इकाई अन्तर्क्रिया ही होती है। इसमें मानव प्राणी व सामाजिक संरचना को अधिक जटिल, पूर्वानुमानित से परे व अधिक सक्रिय माना जाता है। मानव प्राणी मनोवृत्तियों का एक गुच्छा नहीं है अपितु एक गतिशील व परिवर्तनशील कर्ता है जो निरन्तर विकसित होता रहता है। ★